बच्चों का सीखना और सामाजिक सन्दर्भ

सुनील साह

शिक्षा का काम बच्चों को सशक्त और संवेदनशील इन्सान बनाना है ताकि वे एक अर्थपूर्ण जीवन जी सकें। अपने समाज की बेहतरी के लिए कार्य कर सकें और वैश्विक स्तर पर सकारात्मक बदलाव में अपनी भूमिका देख सकें। इसलिए हरेक शिक्षक को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उसकी कक्षा में आने वाला बच्चा जहाँ एक अलग व्यक्ति है, वहीं दूसरी तरफ़ वह समाज का भी हिस्सा और उसे उसी तरह से विकसित करने की ज़रूरत है।

मैं जब भी स्कूलों में जाता हूँ और शिक्षक साथियों से मुलाक़ात होती है, तो एक बात हमेशा सामने आती है कि यह "कुछ" बच्चे हैं जो सीख नहीं पाते। और जब आप कारणों की तलाश करते हैं तो ऐसी प्रतिक्रियाएँ सामने आती हैं, जो इन बच्चों के इन्सान होने की मान्यता को ख़ारिज करते हुए दिखाई पड़ती हैं। बच्चा इसी समाज का हिस्सा है और इसी में अन्तःक्रिया करते हुए अपना मानसिक और सामाजिक विकास करता है। फिर ऐसा कैसे सम्भव है कि कुछ बच्चे सीख नहीं पाते?

बच्चों की सीखने सम्बन्धी मान्यताओं को अगर देखें-परखें तो हम पाते हैं कि हमारी सामाजिक व्यवस्था इसके लिए ज़िम्मेदार है। हमारे समाज की एक बनावट जिसमें विभिन्न जाति, धर्म और आर्थिक स्थितियों के लोगों के समूह शामिल हैं और इसके आधार पर उनके सीखने की क्षमता उसी समय से तय कर दी जाती है जब वे विद्यालय में दाख़िल होते हैं। समाज के पदानुक्रम में जब यह मान्यता अपनी पैठ बनाती जाती है तो फिर सीखने-सिखाने का आग्रह कम होकर बच्चों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों पर केन्द्रित हो जाता है और हमारे प्रयास संकुचित हो जाते हैं।

मैं बच्चों के सन्दर्भ में अपने अनुभवों से कह सकता हूँ कि हम इन्हें समाज के पदानुक्रम में सबसे निचले स्थान पर रखते हैं, शायद महिलाओं से भी नीचे। अकसर स्कूलों में यह कहते हुए सुना जा सकता है कि "यह बच्चा कुछ नहीं कर पाएगा, इसमें वह क्षमता नहीं है" या "यह ऐसे नहीं सीखेगा इसे तो दम भरकर पीटिए।" समाज की यह अपेक्षा कि हमारा बच्चा और बच्चों से बेहतर अंक क्यों नहीं लाता, दूसरे बच्चों से तुलना करना, कोसना एक ऐसे घुटन भरे वातावरण का निर्माण करता है जिसमें बहुत सारी ज़िन्दगियाँ दफ़न हो जाती हैं। ऐसे वातावरण में सीखने-सिखाने की जो पहल होनी चाहिए वह हम नहीं करते। बच्चे मानव समाज का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं, उनमें वह सभी मानवीय गुण पाए जाते हैं जो वयस्कों में होते हैं। तो फिर ऐसा क्यों है कि कुछ बच्चे नहीं सीख पाते?

आर्थिक विषमता इस खाई को और बढ़ाती है। हमारे समाज़ का बड़ा तबक़ा आज भी दो वक़्त की रोटी बमुश्किल जुटा पाता है और कुछ परिवारों में इसके लिए काफ़ी संघर्ष चलता है। ऐसे में उस परिवार का बच्चा परिवार की ज़रूरतों को अपनी ज़िम्मेदारी के रूप में महसूस करता है और उससे निपटने के लिए काम करना शुरू कर देता है। बहुत सारे बच्चे धान की कटाई, मटर व आलू चुनने के समय अपने परिवारों की मदद करते हैं और विद्यालयों से अनुपस्थित रहते हैं।

यहाँ मैं एक घटना का ज़िक्र करना चाहता हूँ। हम कुछ साथी उत्तराखण्ड के एक विद्यालय में 'बाल शोध मेले' की तैयारी के लिए लगातार जाते थे और समुदाय के सदस्यों से मिलते थे। धीरे-धीरे बातचीत की प्रक्रिया आगे बढ़ी। उनका विश्वास हम पर बढ़ने लगा। फिर बात ही बात में उन लोगों ने बताया कि पहली बार हमसे मिलने कोई आया है और हमारे जीवन और पेशे के बारे में बात कर रहा है। इस समुदाय के अधिकांश सदस्य भीख माँगकर अपना पेट पालते थे। उन्होंने बताया कि लोग हम वयस्क लोगों को अकसर पैसा नहीं देते, तो न चाहते हुए भी हमें बच्चों को अपने साथ ले जाना पड़ता है। हम सभी समझते हैं कि शिक्षा का महत्त्व कितना है।

प्रेमचन्द ने 1936 में लिखा था, "समाज का कोई तबक़ा ऐसा नहीं है जो शिक्षा के महत्त्व को नहीं समझता, ज़रूर उसकी कोई मजबूरी रही होगी कि वह अपने बच्चे को स्कूल नहीं भेजता।" ऐसा कहते हुए बच्चों की अनुपस्थिति को मैं जायज़ नहीं ठहरा रहा, बल्कि इसे संवेदनशील तरीक़े से समझने की कोशिश कर रहा हूँ। क्या ऐसा कोई तरीक़ा नहीं हो सकता जिसमें हम ऐसे बच्चों के साथ कुछ अलग तरह की प्रक्रिया अपनाएँ? कुछ ऐसा करें कि विद्यालय उनको अपना लगने लगे। उनके परिवार और समुदाय के भरण-पोषण के तरीक़ों को संवेदनशील तरीक़े से समझें और उसे सम्मान दें। कुछ प्रक्रियाएँ कक्षा-कक्ष से बाहर की हो सकती हैं, उसे इसका हिस्सा बनाते हुए सिखाने की नई पहल की जा सकती है।

इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी कुछ मान्यताओं में बदलाव लाएँ और साथ ही कुछ नए रास्ते भी बनाएँ, मसलन—

- सर्वप्रथम, हमें सामाजिक और आर्थिक पहलुओं के आधार पर बच्चों की तुलना करना, उनके बारे में कोई राय बनाना और उनपर कोई लेबल लगाना छोड़ना पड़ेगा।
- हर बच्चे में सीखने की क्षमता होती है, चाहे वे किसी भी पृष्ठभूमि से हों बशर्ते उन्हें सीखने के समान अवसर और विविध तथा मनोरंजक तरीक़े उपलब्ध हों। सभी बच्चों को विद्यालय अपना हिस्सा बना सके इसके लिए प्रयास हो और बनी-बनाई मान्यताओं को तोड़ने की क़वायद हो। बच्चों के ऊपर विश्वास करना होगा कि अगर उन्हें उचित सम्मान और सहयोग मिला तो वे सीख जाएँगे।
- प्रक्रिया को ज़्यादा जगह देने की ज़रूरत है, बजाय इसके कि कितने बच्चे प्रश्न-उत्तर रटकर सफल हुए। बच्चों में रचनात्मक चिन्तन का विकास करना ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए विद्यालय में तरह-तरह की शैक्षणिक गतिविधियाँ शुरू की जा सकती हैं, जैसे विषय को अपने आस-पास के परिवेश से जोड़ना, कक्षा में समुदाय के सदस्यों से बातचीत करवाना इत्यादि। बच्चों के साथ-साथ सीखने की प्रक्रिया को भी प्रोत्साहन देना चाहिए। हमारे कुछ विद्यालयों के अनुभव बताते हैं कि इस प्रक्रिया ने उन बच्चों के सीखने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में काफ़ी मदद की जो किसी कारण से पीछे रह गए थे और उनमें विद्यालय आने का उत्साह भी बढ़ा। सबसे ज़्यादा निराशा तब होती है, जब हम खेल को भी खेल भावना से नहीं खेलते और उसमें प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता करने लगते हैं। खेल अगर ख़ुशी और उत्साह के लिए हो तो इसका स्वरूप बदल जाएगा। इससे आपसी सौहार्द विकसित होता है और सामाजिक विकृतियाँ कम होती हैं। जाति और लिंग के बन्धन ढीले होते हैं।
- हमें यह मानना चाहिए कि शिक्षकीय पेशा या वृत्ति (प्रोफ़ेशन) सभी वृत्तियों से अलग है। शिक्षक साथियों को बच्चों के साथ संवेदनशीलता से पेश आना चाहिए। शिक्षकीय वृत्ति एक नई पीढ़ी को तैयार करने की प्रक्रिया है, जिसमें समुदाय अपने बच्चों को एक विश्वास के साथ विद्यालय भेजता है और यह सोचता है कि वह आज जहाँ है, वहाँ से दूसरी पीढ़ी आगे बढ़ रही होगी।

अब अगर हम सब पर इतनी बड़ी ज़िम्मेदारियाँ हैं तो ज़ाहिर है हमारे काम का दायरा भी बड़ा है और उसके लिए अपने को लगातार आगे बढ़ाने का काम साथ-साथ करते जाना होगा तभी हम एक संवेदनशील, तर्कशील, चिन्तनशील समाज बना पाएँगे।



सुनील साह 2009 से अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन से जुड़े हुए हैं। पहले वे उत्तराखण्ड में कार्यरत थे और आजकल छत्तीसगढ़ में हैं। इसके पहले वे राज्य संसाधन केन्द्र, हरियाणा से सम्बद्ध रहे हैं। उनसे sunil@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।